

नाटक, रंगमंच और टी.वी. चैनल की चुनौतियाँ

सारांश

साहित्य की अन्य विधाओं की अपेक्षा नाटक, दृश्य व श्रव्य माध्यम होने के कारण मात्र मनोरंजन का साधन ही नहीं, अपितु मानवीय संवेदनाओं की अभिव्यक्तियों का सशक्त जरिया भी रहा है। यह सही है कि अन्य साहित्यिक विधाओं के साथ-साथ नाटक विधा को भी टी.वी. चैनलों से लगातार चुनौती मिल रही है। विचारणीय बात यह है कि टी.वी. चैनलों में प्रसारित विभिन्न धारावाहिकों का सरोकार सामाजिक, सांस्कृतिक, आर्थिक मूल्यों की पड़ताल न होकर श्रोता अथवा दर्शकों को बाजार के लिए संभावित ग्राहक बनाने तक क्रेन्द्रित रहा है। ऐसी स्थिति में नाटक और रंगमंच ही वह साध्य हो सकता है जिसके माध्यम से समाज को मानवीय मूल्यों, सामाजिक सरोकारों से जोड़े रखा जा सकता है।

मुख्य शब्द : साहित्य, नाटक, रंगमंच, टी.वी. चुनौतियाँ, सामाजिक, सांस्कृतिक मूल्य

प्रस्तावना

“मानव जीवन अपने प्रत्येक रूप में नाटक है और यह नाटक इतना स्वाभाविक है कि हम बिना अभिनय कला को सीखे सर्वोत्तम अभिनय कर रहे हैं।” डॉ० रामकुमार वर्माजी के इस प्रसंग में जब पाश्चात्य साहित्यकार शेक्सपियर ‘दुनिया को एक रंगमंच’ कहते हैं तो जाहिर तौर से कहा जा सकता है कि साहित्य में नाटक ही वह एकमात्र विधा है जो शाब्दिक और सांकेतिक दोहरी भाषा के माध्यम से चाक्षुष सत्य को उद्घाटित करती है। ऐसी स्थिति में जबकि विश्व का अधिकांश जनमानस निरक्षर है, और जिसके लिये शाब्दिक साहित्य ‘काला अक्षर भैस बराबर है, तो स्पष्ट है कि नाटक अन्य साहित्यिक विधाओं की अपेक्षा सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक और सांस्कृतिक चेतनाओं के प्रादुर्भाव के लिये अपेक्षाकृत सर्वोत्तम माध्यम है।

दूसरे अर्थ में “रंगमंच विभिन्न कलाओं का समुच्चय है।” तो यह कहना असंगत नहीं होगा कि कला, साहित्य, अभिनय, गीत-संगीत का सामंजस्यपूर्ण सम्मिश्रण की सामुदायिक रागात्मक चेतना का नाम रंगमंच है। वैज्ञानिक अर्थ में यदि रंगमंच (नाटक) साहित्य की प्रयोगशाला है, तो साहित्य “प्रत्येक देश की जनता की चित्तवृत्ति का संचित प्रतिबिम्ब होता है, तब यह निश्चित है कि जनता की चित्तवृत्ति के परिवर्तन के साथ-साथ साहित्य के स्वरूप में भी परिवर्तन होता चला जाता है।”¹ साहित्य की प्रत्येक विधा चाहे वह दृश्य अथवा श्रव्य ही क्यों न हो? सामाजिक गतिशीलता के कारण अपने मूल रूप में परिवर्तनशील होती है क्योंकि “कोई भी काव्यधारा (नाटक अपने आरंभिक काल में काव्य ही है) अकस्मात् आकाश से नहीं टपक पड़ती, बल्कि सहज विकसित होती है। उसके विकास की पृष्ठभूमि में वे अनेक परिस्थितियाँ विद्यमान रहती हैं, जिनसे रचनाकार अनवरत साक्षात्कार करता है। परिस्थिति और रचनाकार के सम्पर्क से उत्पन्न अनुभव जब साहित्य (कविता) में ढलने लगते हैं तब सहज विकास का चक्र पूरा होता है।”² अतः इस वास्तविकता से इंकार नहीं किया जा सकता है कि भारतीय नाटक और रंगमंच का वर्तमान उद्देश्य और स्वरूप वह नहीं है, जो आरंभिक काल में रहा है।

मोटे तौर पर “भारतीय रंगमंच! एक बहुत लम्बी रंगयात्रा की गौरवमयी गाथा है। भरत मुनि ने अपने ग्रंथ ‘नाट्यशास्त्र’ में नाटकों की उत्पत्ति का उल्लेख इस प्रकार किया है— ऋग्वेद से कथ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस, लेकर पाँचवे वेद की संरचना हुई है। अतः यह अकारण नहीं है कि नाटक को हमारे यहाँ पाँचवा वेद—नाट्यस्तु पंचमों वेद:’ कहा गया है।”³ अपने दौर में महाकवि कालिदास ने नाटक को ‘चाक्षुष यज्ञ’ से संबोधित किया है तो वहीं ‘रस सम्प्रदाय’ के प्रणेता भरत मुनि ने इसे ‘सामुदायिक अनुष्ठान’ माना है।



गंगाधर ढोके

सहायक प्राध्यापक,
हिन्दी विभाग,
शासकीय महाविद्यालय,
बिरसिंहपुर, मध्य प्रदेश

भारतीय रंगमंच, संस्कृतकालीन नाटकों के स्वर्णयुग में भास, कालिदास, भवभूति, शूद्रक, विशाखदत्त जैसे महान नाटककारों के अवदानों के रंगों को समेटते हुए मध्ययुग में प्रविष्ट होता है। यह काल नाटकों की सेहत के लिये अच्छा नहीं रहा। विदेशी आक्रमणों के कारण सब छिन्न-भिन्न हो गया। नाटक मंडलियाँ बिखर गईं। लिखित नाटकों के अभाव में रामायण, महाभारत, राजा हरिश्चन्द्र जैसी पौराणिक कथाओं को लेकर मौखिक परम्परा जीवित रहीं। इस युग में रामलीला, रासलीला, यक्षगान, नौटंकी, तामाशा, स्वांग, माच, बिदेसिया आदि लोक रंगमंच पद्धतियाँ रहीं। यद्यपि स्थूल रूप में इस युग के नाटकों को मात्र मनोरंजन के साधन के तौर पर रेखांकित किया जाता है, दरअसल यह एकाकी मूल्यांकन है, वस्तुतः विदेशी आक्रमणकारियों से हताश जनमानस में अतीतकालीन गौरवगाथा और भक्ति के माध्यम से नैतिक मूल्यों की पुनर्स्थापना एवं संघर्ष के लिये प्रेरित करने की जनभावना अन्तर्निहित रही है। तथापि आधुनिक भारतीय रंगमंच का सूत्रपात स्वतंत्रता आन्दोलन से माना जाना चाहिये। इसलिये नाटक और रंगमंच पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि "नाटक साहित्य का एक ऐसा रूप है जिसे अभिनय और रंगमंच का वरदान प्राप्त है।" इस कथन को विस्तार देते हुए रामकुमार वर्मा लिखते हैं कि "नाटक साहित्य का सगुण है। जिस प्रकार निराकार ब्रह्म अपने वैभव का अभिज्ञान अवतार के माध्यम से भक्त को कराता है, उसी प्रकार साहित्य का सौन्दर्य रंगमंच पर अवतरित होकर नाटक के रूप में प्रकट होता है। नाटक दृश्यकाव्य है जिसमें नृत्य, संगीत और अभिनय हृदय के ललित सृष्टि को एक आकर्षक रूप प्रदान करते हैं। इस भाँति नाटक के दो पार्श्व हैं— प्रथम तो हृदय की वे समस्त अनुभूतियाँ हैं, जो मनोविज्ञान या रस से ओतप्रोत होकर जीवन के यथार्थ या आदर्श में प्रतिफलित होती है और परिस्थिति की वे समस्त रूपरेखाएँ हैं जो मंच वेशभूषा, नृत्य, संगीत और अभिनय का माध्यम ग्रहण करती हैं।" इससे स्पष्ट है कि साहित्य की अन्य विधाओं, कविता, कहानी, उपन्यास आदि की अपेक्षा नाटक जनमानस के बीच बैठकर उनसे संवाद करता है, उनके दुखों में साझेदारी करता है, आसन्न संकटों से निपटने के लिये तैयार करता है। डॉ. रामकुमार वर्मा के शब्दों में "साहित्य का अध्ययन करने की अपेक्षा हमें जीवन का अध्ययन करने की आवश्यकता है। उसी में हमें मौलिकता के दर्शन होंगे। साहित्य के ग्रंथ तो लेखकों के व्यक्तिगत दृष्टिकोण से ही बने हुए हैं।" तो स्पष्ट है कि नाटक समकालीन जीवन का न केवल यथार्थपरक लेखा-जोखा है, बल्कि वह जीवन के सौन्दर्य और कल्पना तत्वों में अन्तर्निहित आनन्द का निर्माता भी है। इस सन्दर्भ में नाटक और रंगमंच के सम्बन्धों पर विचार करने से स्पष्ट होता है कि नाटक और रंगमंच का वही संबंध है, जो आत्मा और शरीर का है। डॉ. वर्मा रंगमंच की महत्ता, नाटक और रंगमंच की अभिन्नता और सार्थकता पर विचार करते हुए लिखते हैं कि "यदि नाटक प्राण है तो रंगमंच उसका शरीर है। बिना शरीर के प्राण की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती।" अतः कहना चाहिये कि नाटकों की उपयोगिता, महत्ता और विचारों का साधारणीकरण अन्ततोगत्वा रंगमंच के बिना सम्भव नहीं है। इसलिये वैश्विक पूंजीवाद और सूचना क्रान्ति के मकड़जाल में फंसी एक तिहाई आबादी को

सही दिशा और दशा देने के लिये आवश्यकता रंगमंचीय नाटकों के लेखन और प्रस्तुतीकरण की अधिक है। बकौल डॉ. रामकुमार वर्मा "नाटककार को जीवन से बाहर की आवश्यकता नहीं है, आवश्यकता केवल कलात्मक रूप से घटनाओं को व्यस्थित करने की है, चिरंतर-अस्तित्व की पीठिका पर जीवन के कौतूहल को व्यंजनात्मक भाषा में उपस्थित करने की है।" यहाँ यह स्मरणीय है कि साहित्यिक अवधारणाएँ परिस्थितिजन्य होती हैं, और परिस्थितियाँ समय-सापेक्ष होने के कारण परिवर्तशील होती हैं। परिस्थितियों की परिवर्तनशीलता नये विचारों, संघर्षों और आवश्यकताओं को जन्म देती चलती है। अतः किसी भी साहित्यिक विधा चाहे वह नाटक ही क्यों न हो? रचना प्रक्रिया और मूल्यों की केमेस्ट्री आज के समय में वही नहीं हो सकती, जो आधुनिक काल में थी। इसलिये नाटकों के कथ्य, स्वरूप, ध्येय और प्रस्तुतीकरण की सफलताएँ, समकालीन सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक और आर्थिक परिस्थितियों निश्चित होनी चाहिये। वर्तमान जीवनमूलक परिस्थितियाँ अपेक्षाकृत अधिक चुनौतीपूर्ण हैं। यहाँ यह भी ध्यान रखना होगा कि नाटक और रंगमंच के लिये चुनौती केवल टी. वी. चैनलों से ही नहीं है, वैश्विक सत्ता, पूंजी, और साम्प्रदायिकता से भी है।

जहाँ तक नाटक, रंगमंच को एकाधिक टी.वी. चैनलों से चुनौतियों का प्रश्न है, यह स्वाभाविक है, क्योंकि पूंजीवादी सूचना क्रान्ति के इस दौर में इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के चरित्र को वैश्विक भूमण्डलीकरण के चरित्र और प्रकृति के बिना नहीं समझा जा सकता। ऐसा इसलिये भी कि विगत कुछ वर्षों में पूंजीवाद या बाजारवाद जिस तेजी से बढ़ा है, उतना किसी काल में नहीं फैला है। भूमण्डलीकरण, बाजार और मीडिया के गहरे अन्तर्संबंधों को समझना होगा, क्योंकि इस नई पूंजीवादी वैश्विक व्यवस्था ने समाज, राजनीति, संस्कृति, परम्पराओं, स्मृतियों और स्वप्नों गहरे स्तर पर प्रभावित किया है। समाज का सर्वहारा वर्ग त्रस्त है और मध्यवर्ग दिग्भ्रमित। तो यह समय इतिहास का सबसे जटिल समय है। इस समय को पहचानने की दरकार है। इस प्रकोप को प्रत्येक घटना से जोड़कर देखने और समझने की आवश्यकता है। फिर चाहे वे गुजरात के दंगे हों, विदर्भ में किसानों की आत्महत्या हो, मटुकनाथ - जूली प्रेम प्रसंग हो, खैरलांजी में दलितों की हत्या हो, या फिर केबीसी में अमिताभ की जगह शाहरुख खान हो। अथवा अभिषेक-ऐश्वर्या की कुंडली हो। टी.वी. चैनलों के लिये ये मुद्दे, बजाय किसानों की आत्महत्या के कारणों की पड़ताल से ज्यादा जरूरी हैं। जो दृश्य हमारे ड्राइंग रूम में पहुँच रहे हैं, वे भी सुनियोजित हैं। राजेन्द्र यादव भूमण्डलीकरण और मीडिया के रिश्तों को उजागर करते हुए लिखते हैं कि - "विनिमय पर आधारित पिछले सारे भूमण्डलीकरण बहुत सीधे और गैरजटिल थे- आज यह सबसे उलझा हुआ एकतरफा और अनेक स्तरीय है। मीडिया का उपयोग लोगों को वस्तुओं से परिचित कराने के लिये नहीं होता, उन वस्तुओं को जरूरतों को अनिवार्य बनाने के लिये किया जाता है। खबरिया चैनलों के संबंध में "अब यह समझाना मुश्किल है कि मीडिया में सूचना के लिये विज्ञापन है या विज्ञापनों के लिये सूचनाएँ- समाचार।" ऐसी स्थिति में शब्दों की अर्थवत्ता बेमानी होती जा रही हो, दृश्य दिग्भ्रमित कर रहे हों, तो जाहिर है नाटक और रंगमंच अपनी प्रभावी भूमिका निभा सकता है।

इस दृष्टि से वास्तविक मायने में यह समय साहित्यकारों, सृजनधर्मियों एवं बुद्धिजीवियों के लिये चुनौतीभरा स्पेस है और इस चुनौती को सिर्फ व्यवस्था को गरियाने मात्र से नहीं भरा जा सकता और न ही मीडियाई फुहड़ चुटकुलेबाजी और तुकबंदी से पूरा किया जा सकता है, क्योंकि "लेखक के हिस्से में आमजन की अपेक्षा जो भाव अधिक प्रबल माना जाता है, वह है संवेदना। इसी के चलते वह समाज में व्याप्त दुख-दर्द, अन्याय व शोषण को ज्यादा गहराई से महसूस करता और प्रतिक्रिया करता है। इसी के चलते वह अपने वर्ग के मूल्यों का अतिक्रमण करते हुए भी शोषित-पीड़ित आमजन की चिन्ता और सरोकार से खुद को जोड़ लेता है। सत्ता पक्ष के हितों के विरुद्ध खड़ा होना एक लेखक के लिये सदैव ही महंगा पड़ा है।" ⁵ लेकिन साहित्य की सार्थकता इसी खड़े होने में है न कि बंद कमरे में बैठकर केवल कागज काले करने तक सीमित होनी चाहिये। क्योंकि "प्रजातांत्रिक व्यवस्था में जनता की उदासीनता सैनिक तानाशाह की स्वैच्छाचारिता से ज्यादा नुकसानकारी होती है। ऐसे सोते हुए समाज को जगाने की ज्यादा बड़ी चुनौती एक लेखक के सामने दूसरी क्या हो सकती है।" ⁶ विशेष रूप से जब सारे के सारे टी.वी. चैनल टीआरपी की अंधी दौड़ में अश्लीलता, नग्नता, फुहड़ता, नाग और नागिन के किस्सों और भूत-प्रेतों की लपफाजियों से भरे पड़े हो, तो आवश्यकता साहित्य को बंद कमरे से निकालकर व्यावहारिकता (नाटक और रंगमंच) में बदलने की है, जनमानस की बौद्धिक और सांस्कृतिक भूख मिटाने की भी है और यह नाटक और रंगमंच के लिये इतिहास का सबसे अच्छा अवसर है।

एक बात और जो रेखांकित की जा सकती है— वह लेखकीय प्रतिबद्धता से जुड़ी है, पाठकों और प्रकाशकों से सम्बद्ध है। भूमण्डलीकरण ने बाजार को और बाजार ने लेखकों को दायम एवं प्रकाशकों को प्रथम दर्जे में बिठाया है। पुस्तकों की कीमते पाठकों के आर्थिक कद से बहुत ऊंची है। सरकारी खरीद ने प्रकाशन व्यवसाय को 'प्रकाशन मण्डी' में तब्दील कर दिया है। लेखक और प्रकाशक के संबंध बाजार की शर्त पर टिके हुए हैं, देश की अधिकांश जनता निरक्षरता के अभिशाप से अभिशप्त हो तो ऐसे समय में नाटक और रंगमंच अपनी दृश्यात्मकता विशेषता के कारण अपनी उपस्थिति से समाज को वैश्विक पूंजीवाद की चकाचौंध से बाहर निकाल सकता है। विश्वविख्यात चिन्तक एवं साहित्यकार फ्रैंक काफ़्का के कथन को उधार लेकर कहूँ तो— "भाषा जीवितों को एक अपरिभाषित समय के लिये दी गई है। हमें सिर्फ इसके इस्तेमाल का अधिकार है, क्योंकि भाषा वास्तव में पूर्वजों और अजन्मी पीढ़ी की धरोहर है।" ⁷ तो इस धरोहर को आने वाली पीढ़ी को हस्तांतरित करने का दायित्व भी कलाधर्मियों का है।

साम्प्रदायिक विकृत मानसिकता के बावजूद जिसे इष्टा, विवेचना, सृजनकला, अक्षरा, जैसी देश के कोने-कोने में फैली नाट्य संस्थाएँ और हबीब तनवीर हषीकेश सुलभ, देवेन्द्रराज अंकुर, रतन थियम, ऊषा आठवले, हरिओम राजौरिया, हिमांशु राय जैसे अनेक रंगकर्मी रंगमंच को ऊर्जावान बनाये हुये हैं तो यह शुभ संकेत है और यह अकारण नहीं है, क्योंकि मानव जीवन से सम्बन्ध सभी कलाओं और संस्कृति का सम्बन्ध संघर्षों से जुड़ा होता है, इसलिये प्रत्येक समय में कलाधर्मी, सामन्त और प्रजा, महाजन और किसान, मूलधन और सूद, शोषित और शोषक के बीच ढाल के रूप में उपस्थित रहा है। इसलिये चुनौतियाँ प्रत्येक समाज और समय में रही है। दूसरी ओर "संस्कृति अपने भीतर कई तरह के

वैचारिक कशमकश को समेटे रहती है। इसलिये हर समाज में हर समय की संस्कृति के भीतर वैचारिक उथल-पुथल होता रहता है। हिन्दी रंगमंच भी इससे अछूता नहीं है।" ⁸ दो भिन्न-भिन्न समय के मानवीय मूल्यों के टकराव में बाह्य संघर्ष और आन्तरिक द्वन्द्व जितना अधिक सघन होगा, श्रेष्ठ सृजनात्मक सम्भावनाएँ इतनी ही प्रबल होती हैं। इस प्रक्रिया से रंगमंच भी अछूता नहीं है। हषीकेश सुलभ वर्तमान समय और रंगमंच की उपस्थिति पर विचार करते हुए लिखते हैं कि "रंगमंच जीवन के संघर्ष के साथ जुड़ा हुआ है, बाजार में कुछ भी बेचने को आतुर इलेक्ट्रानिक मीडिया के शोर-शराबे के बीच रंगमंच के प्रति दर्शकों की यह उत्सुकता और रंगकर्मीयों की यह सक्रियता इस ओर संकेत करती है कि किसी भी काम में चाहे वह कितना ही उथल-पुथल भरा क्यों न हो ? बिना रंगमंच के कोई समाज जीवित नहीं रह सकता।" ⁹ मानव सभ्यता का इतिहास इस बात का साक्षी है कि इस देश में सांस्कृतिक निष्ठा इतनी सुदृढ़ और घनीभूत रही है कि गहरी से गहरी विपत्ति में भी उसने आत्मविश्वास और आशावाद नहीं खोया और दासत्व की श्रृंखलाओं से कसे जाने पर भी उसमें स्वच्छन्द चेतना की किरणें अपनी ज्योति फैलाती रही है।" ¹⁰ इसलिये तमाम अवरोधों, संघर्षों और चुनौतियों के बावजूद नाटक और रंगमंच स्वतंत्र चिन्तन, अनुभूति और संवेदनाओं को लेकर मोर्चे पर डटा हुआ है, और यह रंगमंच की सफलता भी है।

सन्दर्भ

1. हिन्दी साहित्य का इतिहास, डॉ. रामचन्द्र शुक्ल, पृष्ठ 9 मयूर पेपर बैक्स, नोएडा
2. नयी कविता, डॉ. देवराज, पृष्ठ 10 वाणी प्रकाशन नई दिल्ली
3. भारतीय रंगमंच: एक लंबी यात्रा प्रकाश गोविन्द, उत्तरप्रदेश मासिक अप्रैल-98, पृष्ठ 43 सं. लीलाधर जगुड़ी, लखनऊ
4. समयान्तर, मार्च-2005 'मगर रास्ता है'— राजेन्द्र यादव, पृ.88 सं0 पंकज विष्ट, नई दिल्ली
5. बया-01 लेखक की भूमिका शिवमूर्ति, पृष्ठ 9 सं0 गौरीनाथ, नई दिल्ली
6. बया-01 लेखक की भूमिका शिवमूर्ति, पृष्ठ 10 सं0 गौरीनाथ, नई दिल्ली
7. बया-01 बाजार के आगे झुका प्रकाशक भारत भारद्वाज, पृष्ठ 34 सं0 गौरीनाथ, नई दिल्ली
8. कथादेश, मई-2004, रवीन्द्र त्रिपाठी सं0 हरिनारायण नई दिल्ली
9. कथादेश अक्टूबर-2005, हषीकेश सुलभ सं0 हरिनारायण नई दिल्ली
10. कथादेश मई-2006 डॉ. रामकुमार वर्मा की नाट्य चेतना, हषीकेश सुलभ सं0 हरिनारायण नई दिल्ली